

भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व की अवधारणा

—डॉ. सोहनराज तातेड़

भारतीय दर्शनों में आत्मा का स्वरूप

जीव अर्थात् जीता है, जीवत्व और आयुष्य कर्म का अनुभव करता है, इससे प्राणी का नाम जीव है—

जाहा जीवेति, जीवत्तं, आउयं, च कम्मं उपजीवति तम्हा 'जीवे' ति वत्तत्वं सिया

भगवती सूत्र में जीव के तेईस नाम बताये गए हैं¹—1. जीव, 2. जीवास्तिकाय, 3. प्राण, 4. भूत, 5. सत्त्व, 6. विज्ञ, 7. वेद, 8. चेता, 9. जेता, 10. आत्मा, 11. रंगण, 12. हिंडुक, 13. पुद्गल, 14. मानव, 15. कर्त्ता, 16. विकर्त्ता, 17. जगत्, 18. जन्तु, 19. योनि, 20. स्वयंभूत, 21. सशरीरी, 22. नायक और 23. अन्तरात्मा।

1. **जीव—जीने का अर्थ है—“प्राणों का धारण करना”। जीवत्व का अर्थ है—उपयोग, ज्ञान और दर्शन सहित होना।** आयुष्य कर्म के अनुभव का अर्थ है—निश्चित जीवन अवधि का उपयोग। जितने भी संसारी जीव हैं, सब प्राण सहित हैं। ज्ञान और दर्शन जो जीव मात्र के स्वाभाविक गुण हैं। हर एक प्राणी की अपनी-अपनी आयुष्य होती है। इस तरह जीते रहने से प्राणी जीव कहलाता है।
2. **जीवास्तिकाय—जीव अपने कर्मानुसार अनेक देह धारण करता है।** परन्तु छोटे से छोटे और बड़े से बड़े शरीर में भी उसके असंख्यात प्रदेशीपन में कमी या अधिकता नहीं होती। चींटी और हाथी दोनों के जीव असंख्यात प्रदेशी हैं।
3. **आत्मा—चैतन्य लक्षण, चैतन्य स्वरूप या चैतन्य गुण पदार्थ का नाम आत्मा है।² ऐसी आत्माएँ अनन्त है।³ उनकी सत्ता स्वतंत्र है।⁴ वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं।** प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है, अनन्त प्रमेयों को जानने में सक्षम होती है। चैतन्य स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएँ समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सबमें समान नहीं होता।⁵ **चैतन्य विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है।⁶**
4. **प्राण—जीव श्वास निःश्वास करता है, इससे वह प्राणी है।⁷**
5. **कर्त्ता—आत्मा ही कर्त्ता है। कर्त्ता का अर्थ है—कर्मों का कर्त्ता—कर्त्त ति कर्त्ता कर्मणाम्।** “आत्मसिद्धि” नामक पुस्तक में कहा गया है—जड़ में चेतना नहीं होती, केवल जीव में ही चेतना होती है। बिना चेतन प्रेरणा के कर्म, कर्म का बंधन कैसे होगा? अतः जीव ही कर्म का बंधन करता है, क्योंकि चेतन प्रेरणा जीव के ही होती है। जब तक जीव कर्म बंधन

करता है, तभी कर्म बंध होते हैं। कर्म करना जीव की इच्छा पर रहने से यह भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा सहज स्वभाव से ही कर्मों का कर्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म करना जीव का आत्म-धर्म नहीं है, क्योंकि ऐसे होने से कर्म का बंधन उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता, यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीव असंग है और केवल कर्म प्रवृत्तियां ही कर्म-बंध करती हैं, ऐसा होता तो जीव का असली स्वरूप कभी का मालूम हो जाता। कर्म करने में ईश्वर की भी कोई प्रेरणा नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर सम्पूर्ण शुद्ध स्वभाव का होता है। उसमें इस प्रेरणा का आरोपण करने से तो उसे ही सदोष ठहरा देना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **“आत्मा ही कर्मों का बंधन करता है। जब जीव अपने चैतन्य स्वभाव में रमण करता है तो वह अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता होता है और जब विभाव भाव में रमण करता है तो कर्मों का कर्ता कहलाता है।”**

प्रागैतिहासिक काल की घटना है। जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ इस धरती पर थे। एक दिन उनके अष्टानवे पुत्र मिलकर आये। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की—“भरत ने हम सबके राज्य छीन लिये हैं। हम अपना राज्य पाने की इच्छा लिए आपकी शरण में आये हैं।” भगवान् ने कहा—“मैं तुम्हें वह राज्य तो नहीं दे सकता किन्तु ऐसा राज्य दे सकता हूँ, जिसे कोई छीन न सके।”

पुत्रों ने पूछा—“वह राज्य क्या है?”

भगवान् ने कहा—“**वह राज्य है—आत्मा की उपलब्धि**”।

पुत्रों ने पूछा—वह कैसे हो सकती है?

तब भगवान् ने कहा—

संबुज्झह किं न बुज्झह, सेवोहि खलु पेच्च दुल्लहा ।

नो हू वणमंति राइयो, णो सुलभं पुणराति जीवियं ।।

“संबोधि को प्राप्त करो। तुम संबोधि को प्राप्त क्यों नहीं कर रहे हो। बीती रात लौटकर नहीं आती। वह मनुष्य जीवन भी बार-बार सुलभ नहीं है।”

जैन धर्म के साथ सम्बोधि का प्रागैतिहासिक सम्बन्ध है। **संबोधि क्या है? वह है आत्म-मुक्ति का मार्ग**। सब मार्ग जो हमें आत्मा की सम्पूर्ण स्वाधीनता की ओर ले जाते हैं, एक शब्द में संबोधि कहलाते हैं। बोधि के तीन प्रकार हैं—ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि, चारित्र बोधि। जैन दर्शन का यह अभिमत है कि हम कोरे ज्ञान से मुक्ति को नहीं पा सकते, कोरे दर्शन और चारित्र से भी उसे नहीं पा सकते। उसकी प्राप्ति तीनों के समवाय से अर्थात् अविकल सम्बोधि से हो सकती है। जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं—

1. आत्मा है।

2. उसका पुनर्जन्म होता है।
3. वह कर्मों की कर्ता है।
4. वह कृत कर्म के फल का भोक्ता है।
5. बंधन है और उसके हेतु हैं।
6. मोक्ष है और उसके हेतु हैं।

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त जीव ही परमात्मा होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हर आत्मा में परमात्मा होने की क्षमता है। काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि का उचित योग मिलने पर आत्मा परमात्मा हो जाती है, बंधनसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में प्रकट हो जाती है। जैन दर्शन आदि से अंत तक आध्यात्मिक दर्शन है। उसका समग्र चित्र, आत्म-कर्तृत्व की रेखाओं से निर्मित है।⁸

जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। यों तो अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं, किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सर्वाधिक मूल्यवान तत्त्व है। “वस्तु का अस्तित्व है” इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। **आत्मा का जैन दर्शन में बहुत महत्त्व है। आत्मा ही प्राप्य है, दूसरा कुछ भी नहीं।** आत्म विकास शिव है। पौद्गलिक साज-सज्जा-सौन्दर्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता किन्तु आत्म विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। शिव और सुन्दर के मूल्यांकन में व्यक्ति की दृष्टि ही महत्त्वपूर्ण होती है।

न रम्ये नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि।

प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।।⁹

भारतीय दर्शनों में आत्म-स्वरूप के बारे में दो परम्पराएँ विशेष रूप से प्रभावी हैं—

1. ईश्वरवादी परम्परा

विश्व के समस्त धर्मों का मूल आधार है—आत्मा और परमात्मा। इन्हीं दो तत्त्वरूप स्तम्भों पर धर्म का भव्य भवन खड़ा है। विश्व की कुछ धर्म परम्पराएँ आत्मवादी होने के साथ-साथ ईश्वरवादी हैं और कुछ अनीश्वरवादी हैं। ईश्वरवादी परम्परा वह है, जिसमें सृष्टि का कर्ता-धर्ता या नियामक एक सर्व शक्तिमान ईश्वर या परमात्मा माना जाता है, सृष्टि का सब कुछ उसी पर निर्भर है। उसे ब्रह्मा, विधाता, परमपिता आदि कहा जाता है। इस परम्परा की मान्यता के अनुसार भूमंडल पर जब-जब अधर्म बढ़ता है, धर्म का ह्रास होता है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं और दुष्टों का दमन करके सृष्टि की रचना करते हैं, उसमें सदाचार का बीज वपन करते हैं।

2. अनीश्वरवादी परम्परा

दूसरी परम्परा आत्मवादी होने के साथ-साथ अनीश्वरवादी है, जो व्यक्ति के स्वतंत्र विकास में विश्वास करती है। **प्रत्येक व्यक्ति या जीव अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। अपने में राग-द्वेष विहीनता या वीतरागता का सर्वोच्च विकास करके वह परमपद को प्राप्त करता है।** वह स्वयं ही अपना नियामक या संचालक है। वह स्वयं ही अपना मित्र है, शत्रु है। जैन धर्म इसी परम्परा का अनुयायी स्वतंत्र तथा वैज्ञानिक धर्म है। यह परम्परा संक्षेप में "श्रमण संस्कृति" के नाम से पहचानी जाती है। इस आध्यात्मिक परम्परा में बौद्ध आदि अन्य धर्म भी आते हैं। ईश्वरवादी भारतीय परम्परा "ब्राह्मण संस्कृति" के नाम से जानी जाती है।

परमात्मा दोनों परम्पराओं में मान्य है, इतना सा अंतर है कि एक परम्परा में परमात्मा सर्वज्ञ है और सृष्टि कर्ता भी। **जैन धर्म के सिद्धांतानुसार परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है। जैन धर्म का लक्ष्य है—मनुष्य वीतराग बने और वीतराग बनकर परमात्म-पद को प्राप्त करे।¹⁰**

आत्म-चिन्तन का महत्त्व है कि आसक्ति से ऊपर उठ जाता है व्यक्ति। पुद्गल चेतना के ऊपर उठने के पश्चात् न दुःख होता है और न सुख। न राग होता है, न द्वेष। न प्रियता होती है, न अप्रियता। कुछ नहीं रहता है। जब यह सब नहीं रहेगा तो हमारा जीवन आनन्दपूर्ण हो जायेगा, कोई समस्या नहीं होगी। न कोई अपना होगा, न पराया, न शरीर होगा, न भटकाने वाली इन्द्रियां और मन। वहां कुछ नहीं होगा, केवल ज्ञान होगा, केवल दर्शन होगा, केवल आनन्द होगा, केवल शांति होगी और शक्ति का अजस्र प्रवाह। प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु के नहीं। निश्चय दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट। **इस इष्टतानिष्टता का आधार बनता है—राग और द्वेष।** एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वहीं दूसरे समय उसमें लीन हो जाता है। इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए?¹¹

आत्मा के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने ज्ञान के विकास के अनुसार लोगों ने माना है। शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य के शरीर के मध्यम भाग के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है।¹² आरण्यक ग्रंथों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राण के साथ आत्मा की अभेद भावना है।¹³ आत्मा को विज्ञानमय एवं आनन्दमय भी कहा गया है।¹⁴ आत्मा को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु माना गया है। संसार के जितने स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं, सारे आत्मा के ही रूप हैं। **संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं का सार आत्मा है। इसके समान प्रिय वस्तु कोई दूसरी नहीं।¹⁵** डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है—ऋग्वेद में¹⁶ इसका अर्थ प्राण अथवा जीवनधारा बताया गया है। शनैः—शनैः आगे चलकर इसका अर्थ आत्मा एवं अहं हो गया।¹⁷ कठोपनिषद् में बताया गया है कि आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी से उत्पन्न होता है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु यह नहीं मरता है। यह अशरीरी, महान् एवं विभु है। यह आत्मा प्रवचनों, तर्क-वितर्क और वेदों के पढ़ने से नहीं मिलता है, यह प्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है।¹⁸ इसी में

आत्मा को रथी और शरीर को रथ, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़ा तथा इन्द्रिय विषयों को मार्ग कहा है। इसे उपनिषद् में इन्द्रियादि से महान् बतलाया है।¹⁹ कहीं-कहीं तो आत्मा को सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वानतर सबका एकापन कहा है। अन्यत्र कहा है—“आत्मा न तो चल है, न अचल है, न क्षणिक है, न सूक्ष्म है।” यह सभी द्वन्द्वों से रहित है।²⁰ तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा के पांच कोश—अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष का वर्णन किया गया है।²¹

भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व की अवधारणा

अलग-अलग भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व की अलग-अलग अवधारणा पाई जाती है। कुछ भारतीय दर्शनों में आत्म-तत्त्व की अवधारणाएँ निम्नानुसार प्रस्तुत हैं—

1. **शरीरात्मवाद**—शरीरात्मवाद को मानने वाले चिंतकों की अवधारणा है कि—जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार बाहर खींचकर उसे अलग दिखा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकालकर कोई भी पृथक् रूपेण नहीं बता सकता। जिस प्रकार तिलों में से तेल निकालकर बताया जा सकता है या दही से मक्खन निकालकर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकालकर नहीं बताया जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है, तभी तक आत्मा की स्थिरता है। शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।²² चार्वाक दर्शन का एक सम्प्रदाय शरीर को ही आत्मा मानता है। सूत्रकृतांग में तज्जीवतच्छरीरवाद के रूप में शरीरात्मवाद का विवेचन किया गया है।²³ इस मत को मानने वालों का तर्क है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार महाभूतों की सत्ता है। इन चारों भूतों के शरीराकार में परिणत होने के चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है²⁴ जैसे मादक द्रव्य महुआ आदि में गुड़ आदि मिलने से मादकता उत्पन्न हो जाती है।²⁵ शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।

शरीरात्मवादियों के दृष्टान्त का खंडन करते हुए प्रसिद्ध जैनाचार्य भट्ट अकलंक देव कहते हैं कि यह दृष्टान्त विषम है। मदिरा के प्रत्येक घटक में मादकता भरी रहती है। लेकिन प्रत्येक भूत में चैतन्यता नहीं रहती है। अतः शरीराकार परिणत भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।²⁶

2. **इन्द्रियात्मवाद**—इस मत को मानने वालों का तर्क है कि शरीरादि इन्द्रियों के अधीन है। इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर ही पदार्थों का ज्ञान होता है और उनके अभाव में नहीं होता है।²⁷ इसकी समीक्षा है कि चैतन्य को इन्द्रियों का गुण मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट होने पर चैतन्य नष्ट नहीं होता है।²⁸

3. **प्राणात्मवाद**—इस वाद को मानने वाले चिंतकों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण—परीक्षण प्रारंभ किया तो सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्थगित होने पर श्वासोच्छ्वास रूप में प्राण रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् प्राण के दर्शन नहीं होते। अतः इस बात से इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया कि जीवन में प्राण तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः इस वाद को मानने वालों ने जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण प्राण को माना है।²⁹ जैन दर्शन प्राण को आत्मा नहीं मानता, क्योंकि जैन दर्शन में दो प्रकार के प्राण माने गये हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। चार्वाक जिन प्राणों को आत्मा मानता है, वे इस दर्शन में अचेतन और पौद्गलिक माने गए हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है इसलिए प्राणों को आत्मा कहना ठीक नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि प्राण आत्मा नहीं है, क्योंकि प्राण आत्मा का प्रयत्न विशेष है। प्राण आत्मा पर आधारित है और आत्मा उसका आधार है। अतः प्राण आत्मा से भिन्न है।³⁰

4. **न्याय-वैशेषिक दर्शन**—न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इस परम्परा में आत्मा को शरीरादि से भिन्न एवं स्वतंत्र द्रव्य माना गया है।³¹ इस परम्परा के चिंतकों ने आत्मा को स्वभाव से जड़वत् बतलाया है। अन्य जड़ द्रव्यों से इस द्रव्य में यह भेद किया गया है कि चैतन्य, जो आत्मा का स्वभाव नहीं है आगुन्त गुण है, की उत्पत्ति आत्मा में ही हो सकती है।³² इस तरह आत्मा को चैतन्य या ज्ञान का आधार माना है।³³ अपने इस सिद्धान्त के कारण न्याय-वैशेषिक आत्मा को चैतन्य स्वरूप न कहकर चैतन्यवान कहते हैं। उन्होंने मुक्तावस्था में शरीरादि का अभाव होने से उसे चैतन्यविहीन माना है।
5. **सांख्य दर्शन**—भारतीय दर्शनों में सांख्यमत प्रायः प्राचीन माना जाता है। सांख्य शास्त्र में ब्रह्मांड के निखिल तत्त्वों को मुख्यतः दो वर्गों में रखा गया है—(1) प्रकृति, (2) पुरुष। निखिल प्रकृति का कारण एवं कार्याभाव से जो उपभोक्ता है, वही तत्त्व पुरुष है।³⁴ चेतन पुरुष ही अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता है।³⁵ प्रकृति की नाना प्रकार की समधुर ध्वनियां शीतोष्ण स्पर्श, नील, हरित आदि रूप, रस, गंध आदि का भोक्ता, जो सचेतन तत्त्व है, वह तत्त्व ही पुरुष है।³⁶ कैवल्य की ओर व्यक्ति की प्रवृत्ति उस पुरुष तत्त्व की पहचान है, जो प्रकृति से सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र है। यह कैवल्य ही अपना स्वरूप है, जिसका अनुभव कर व्यक्ति उसे पाने के लिए छटपटाने लगता है।³⁷ पुरुष स्वरूपतः नित्य मुक्त है। प्रकृति के बंधन होता है। पुरुष उदासीन है। उसकी उदासीनता उसका अकर्तृत्वभाव है। पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कारण अग्नि एवं लोह पिण्ड या जल एवं सूर्य के समान बुद्धि एवं पुरुष का उपराग है।³⁸
6. **वेदान्त (अद्वैत) दर्शन**—“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मेव नापरः” ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और आत्मा ब्रह्म का ही रूप है। आत्मा और ब्रह्म में द्वैत नहीं है। आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इसे अहं ब्रह्मास्ति³⁹ तथा तत्त्वमसि⁴⁰ और अयमात्मा ब्रह्म⁴¹ में व्यक्त किया गया है।

तत्त्वमसि में त्वम् (जीव) तत् ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म और जीव एक है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों शुद्ध चैतन्य हैं। त्वम् का अर्थ अल्पज्ञ चेतन जीव और तत् का अर्थ सर्वज्ञ चेतन है। शंकराचार्य के अनुसार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर की उपाधियों से शरीर घिरा हुआ है। अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है।

7. **मीमांसा-दर्शन**—इस मत के चिंतकों के अनुसार आत्मा नित्य है। उसका नाश नहीं होता। वस्तुतः यह कर्ता और भोक्ता है। यह विभु है, क्योंकि यह अहं भाव के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप है तथा देश और काल से अपरिच्छिन्न है।⁴² यही ज्ञाता है।⁴³ यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करता है। भिन्न-भिन्न अनुभव के कारण एक शरीर में एक ही आत्मा होती है और वह दूसरे शरीर में रहने वाली आत्मा से भिन्न है। अतएव अनेक आत्माएँ हैं। अनेक मानने से बद्ध और मुक्त की व्याख्या हो सकती है अन्यथा एक के मुक्त होने पर सभी को मुक्त होना पड़ेगा।⁴⁴
8. **बौद्ध दर्शन**—बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है कि परिवर्तन या क्षणिकता ही यथार्थ सत् है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दर्शन में आत्मा को अनित्य ही नहीं बल्कि क्षणिक माना गया है। इसलिए बौद्धों का आत्मवाद सिद्धान्त अनात्मवाद से प्रसिद्ध है। उपनिषद्, वैदिक दर्शन और जैन दर्शन में मान्य आत्मा के विषय में भगवान् बुद्ध चुप दिखाई पड़ते हैं। आत्मा के शाश्वत स्वरूप के विषय में भगवान् बुद्ध सर्वत्र मौन ही परिलक्षित होते हैं।⁴⁵ शाश्वतवाद में मान्य आत्मा की दृष्टि से बौद्धदर्शन अनात्मवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसमें क्षणिक संवेदनाओं से पृथक् किसी नित्य आत्मा को मान्य नहीं किया।⁴⁶ बौद्ध दर्शन (पालि त्रिपिटक) जैन दर्शन की भांति इन्द्रिय, विषय, मन, विज्ञान, वेदना और तृष्णा जो पुद्गल रूप है⁴⁷ उन्हें आत्मा नहीं मानता। लेकिन जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन इस अर्थ में भिन्न है कि वह इनसे भिन्न आत्मा की कल्पना ही नहीं करता है लेकिन जैन दर्शन में आत्मा एक ऐसा तत्त्व है, जो उपयोग-स्वरूप, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य है। हीयमान बौद्ध दर्शन में वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है कि पंचस्कन्धों को छोड़कर आत्मा कोई तत्त्व नहीं है।⁴⁸

भारतीय दर्शनों में आत्मा के प्रकार

अपने निर्माण का सबसे बड़ा सूत्र है—मोक्ष। अकेलेपन के अनुभव का नाम है—मोक्ष। मैं अकेला हूँ। मेरी आत्मा अकेली है, यह वास्तविक सच्चाई है। मैं अकेला आया हूँ और अकेले जाना है, अकेले को सुख-दुःख भोगना है। वास्तव में मैं अकेला हूँ। जितने पदार्थ हैं, वे वास्तव में मेरे नहीं हैं। परिवार वास्तव में मेरा नहीं है। मैंने अपने इर्द-गिर्द इतने जाल बुने हैं मकड़ी की तरह,

पर वे आखिर जाल ही हैं। मेरा अपना कोई नहीं है। इस प्रकार पदार्थ से अपनी पृथक्ता, अलगाव का अनुभव करना, इसी का नाम है—मोक्ष।⁴⁹ बंधन के बीच, परिवार के बीच, पदार्थ के बीच रहकर भी अपनी अंतिम सच्चाई, अपने अकेलेपन का अनुभव करें, इसका नाम है—मोक्ष। यह है बन्धनातीत अवस्था।

जैनाचार्यों ने आत्मा को देखा, अनुभव किया और जाना—आत्मा एक रूप नहीं है, वह स्वरूपतः एक है, चैतन्यमय है, फिर भी विभाजित है। उसे तीन भागों में देखा गया—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

1. **बहिरात्मा**—बहिरात्मा वह है, जो आत्मा के बाहर परिक्रमा कर रहा है, भीतर प्रविष्ट नहीं हो रहा है। इसका कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण। जब तक दृष्टिकोण मिथ्या रहता है। अपनी आत्मा में अपना प्रवेश नहीं हो सकता।

(1) **बहिरात्मा का पहला लक्षण—शरीर और आत्मा को एक मानना।** जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या है, वह मानेगा कि शरीर ही आत्मा है। आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर को ही आत्मा मानना—बहिरात्मा का पहला लक्षण है। सूत्रकृतांग में विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। एक पक्ष होता है अधर्म का। उसका मानना है—आत्मा नहीं है। इसके समर्थन में उसके अनेक तर्क हैं।

(2) **बहिरात्मा का दूसरा लक्षण है—पदार्थ के प्रति गहरी आसक्ति।** जब शरीर और आत्मा को एक मान लिया जाता है तब पदार्थ की आसक्ति जन्म लेती है। जिन लोगों में धन की प्रबल लालसा है, समझ लेना चाहिए वे बहिरात्मा हैं। उनका दृष्टिकोण मिथ्या है। उन्होंने सत्य को समझा नहीं है, उनका दृष्टिकोण सम्यक् नहीं बना है।

(3) **बहिरात्मा का तीसरा लक्षण है—क्रूरता।** जो बहिरात्मा होता है, उसमें क्रूरता अधिक पनपती है। उसका आत्मा में विश्वास नहीं होता। जब आत्मा में विश्वास नहीं होता तब करुणा कहां से आयेगी? अनात्मवाद में क्रूरता ही पनपेगी। आज भी बहुत से जीवों को क्रूरता से मारा जाता है। इसका कारण है मनुष्य का बहिरात्म भाव।

(4) **बहिरात्मा का चौथा लक्षण है—बन्धन से राग।** जो बहिरात्मा है, वह बन्धन की उपेक्षा करता चला जायेगा। जब फ्रांस के कैदियों को बहुत वर्षों के बाद जेल से मुक्त किया तो उन्होंने बाहर के वातावरण में रहना पसंद नहीं किया। उन्होंने अनुरोध किया—हमें कारावास में डाल दो। वे कारावास में बहुत आसक्त हो गये। उन्हें वहीं अच्छा लगने लगा। बहिरात्मा को बंधन ही अच्छा लगता है, वह मुक्ति की बात नहीं करता।

(5) **बहिरात्मा का पांचवां लक्षण—मानसिक अशांति।** वह मानसिक अशांति का जीवन जीता है। आज पूरे विश्व में, पूरी मानव जाति में जो समस्याएँ उभर रही हैं, उसका कारण

है—बहिरात्मा। जहां—जहां बहिरात्मा है, वहां—वहां समस्याओं का जन्म होगा। उन्हें मिटाया नहीं जा सकेगा।

बहिरात्मा वह बिन्दु है, जहां शरीर और आत्मा दोनों मिल जाते हैं। उनका अस्तित्व अलग होता ही नहीं। निश्चय नय की भाषा होगी—“सर्व आत्मप्रतिष्ठतम्” सब आत्म—प्रतिष्ठित हैं। कोई किसी में नहीं है। जहां वास्तविक सत्य है, वहां आधार और अधेय का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, सारे आत्म—प्रतिष्ठित होते हैं। निश्चय नय की भाषा में हमारी दृष्टि होती है—आत्मा आत्मा है, शरीर शरीर है। शरीर में आत्मा नहीं है और आत्मा में शरीर नहीं है। शरीर की सत्ता अपने आप में है, आत्मा की सत्ता अपने आप में है। हमने भ्रमवश उन्हें एक मान लिया है।

2. **अन्तरात्मा**—जब सम्यग् दर्शन अभिव्यक्त होता है, व्यक्ति अन्तरात्मा बन जाता है। मात्र शरीरदर्शी बहिरात्मा है और आत्मदर्शी अन्तरात्मा है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का अर्थ है—शरीरलक्षी से आत्मलक्षी बन जाना। इस दृष्टिकोण का अंतर व्यक्ति को बाहर से भीतर की ओर ले जाता है। उसका दृष्टिकोण बदलता है और यही बदलाव का मुख्य घटक है।

(1) अन्तरात्मा का पहला लक्षण है—आत्मा को शरीर से भिन्न मानना। जब यह दृष्टि स्पष्ट होती है, आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, तब एक नई धारणा बनती है, व्यक्ति का चिंतन बदलता है, आचार और व्यवहार बदलता है। **समस्त दुःखों का मूल है—शरीर को आत्मा मान लेना।** यदि यह दृष्टिकोण बदले, आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है, यह सच्चाई समझ में आये और व्यक्ति अपनी दृष्टि को इन्द्रियों से हटाकर अपने भीतर टिकाए तो सारी स्थितियां बदल जाएं, चिन्तन और व्यवहार बदल जाएं।

(2) अन्तरात्मा का दूसरा लक्षण है—आसक्ति का कम होना। जैसे ही व्यक्ति अन्तरात्मा बनता है, आसक्ति में अन्तर आना शुरू हो जाता है, अनासक्ति का उदय होता चला जाता है। भरत चक्रवर्ती अन्तरात्मा थे। उन्होंने राज किया, सारे भोग भोगे और वे आदर्श गृह में बैठे—बैठे केवली बन गये। यह है अन्तरात्मा का अनासक्त भाव। अन्तरात्मा में अनासक्ति का क्रमिक विकास होता चला जाता है, अनासक्ति बढ़ती चली जाती है, धन के प्रति लालसा कम होती चली जाती है। उसके लिए धन मात्र साधन होता है, साध्य नहीं होता। अन्तरात्मा का दृष्टिकोण पदार्थ प्रतिबद्ध नहीं रहता।

(3) अन्तरात्मा का तीसरा लक्षण है—करुणा। जब आसक्ति कम होती है, करुणा जाग जाती है। अन्तरात्मा क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकती। **श्रीमद्राजचन्द्र को देखें, जिन्होंने कहा था—“राजचन्द्र दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता।”** यह है करुणा का निर्देशन। जिसमें करुणा जाग जाती है, उसकी भावना बदल जाती है।

(4) अन्तरात्मा का चौथा लक्षण है—मानसिक शांति। उसके मन में बड़ी शांति रहती है। कभी अशांति आती ही नहीं। अगर दृष्टिकोण सम्यक् बन जाये तो कलह का बहुत बड़ा

निवारण हो जाए। जो व्यक्ति अपना आत्म-निरीक्षण करेगा, अपने आपको देखेगा, वह केवल दूसरे की कमी को देखकर उस पर हावी नहीं होगा। आदमी का दृष्टिकोण बदलता है, तब समस्याएँ सुलझती हैं। जो व्यक्ति अन्तरात्मा की सन्निधि में जाता है, सचमुच उसकी भ्रांतियाँ टूट जाती हैं, वह सदा मानसिक शांति का जीवन जीना सीख लेता है।

3. **परमात्मा**—धर्म का आदर्श है परमात्मा। राग-द्वेष से जो मुक्त है, वह परमात्मा है। दुनिया का यही वैचित्र्य है—राग का जीवन जीना और वीतराग को इष्ट और आदर्श मानना। इसके पीछे एक बहुत बड़ा बौद्धिक कारण है। यदि राग को आदर्श माना जाए तो राग इतना भयंकर बन जायेगा कि आदमी जी नहीं सकेगा। जब तक समाज के सामने विराग का दर्शन है, तब तक समाज ठीक चलता है यदि राग का एक छत्र साम्राज्य फैल जाए तो समाज की व्यवस्था एक दिन में चरमरा जाए। परमात्मा का मतलब है—वीतराग होना, राग से विराग की दिशा में प्रस्थान कर देना। आत्मा और परमात्मा में ज्यादा दूरी नहीं है। केवल दिशा बदलने की जरूरत है। दिशा बदले, दृष्टि बदले तो सारा जीवन बदल जाता है। जब दृष्टि बदलती है, तब व्यक्ति के जीवन में व्रत, त्याग और विराग आता है। जब जीवन में व्रत और विराग आता है तब व्यक्ति का परमात्मा की ओर प्रस्थान हो जाता है।

जब समाज में केवल राग ही राग बढ़ता है, तब समस्याएँ उग्र बनती हैं, विकृतियाँ पैदा होती हैं। राग के सामने विराग का चिराग नहीं जलेगा तो राग उच्छृंखल बन जायेगा, खतरनाक बन जायेगा। राग के सामने विराग का होना जरूरी है और उस विराग का होना ही परमात्मा का होना है। व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी एक क्षण ऐसा आता है, जब परमात्मा के दर्शन का आलोक उसके जीवन को आलोक से भर देता है, व्यक्ति बहिरात्मा से परमात्मा की दिशा में प्रस्थान कर देता है।⁵⁰

आत्मानुभूति में बाधक तत्त्व—कर्म

चारित्र्य मोह से मूढ़ बना हुआ मनुष्य किसी पर राग करता है और किसी पर द्वेष करता है। राग-द्वेष से कर्म का आत्मा में आश्रवण होता है और उससे संसार में जन्म मरण की परम्परा चलती है। दर्शन मोह से मूढ़ बना हुआ मनुष्य मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। मिथ्यात्वी घोर कर्मों का उपार्जन करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। जैसे बालका अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बालका से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है। राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दुःख कहा गया है। **जिसके मोह नहीं, उसने दुःख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नहीं, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं, उसने तृष्णा का नाश कर दिया और जिसके पास कुछ नहीं, उसने मोह का नाश कर दिया।**⁵¹

धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति अर्थ सम्पन्न नहीं है और धर्म का आचरण न करने वाला अर्थ सम्पन्न है, इसमें धर्म की विफलता नहीं है। धर्म का फल है—आत्मोदय। वह आत्मा में स्थित है। धर्म से परम शांति, धृति, संतुलन और क्षमा—ये गुण बढ़ते हैं। यह सब धर्म के फल हैं। धन मिलना धर्म का फल नहीं है। प्राणी मात्र में अनन्त चेतना, अनाबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति है। यह प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है। व्यवस्था से प्राप्त होने वाले सुख—दुःख को कर्म पर आरोपित नहीं करना चाहिए और कर्म से प्राप्त होने वाले सुख—दुःख का भार व्यवस्था के सिर पर नहीं डालना चाहिए। जब क्रोध, मान, माया और लोभ उपशांत होते हैं, तब व्यवस्था अच्छी होती है और सबकी स्वतंत्रता अबाधित रहती है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ उत्तेजित होते हैं तब व्यवस्था अच्छी नहीं रहती और परतंत्रता बढ़ती है। **सुख दुःख का कर्ता आत्मा है। वही भोक्ता है। वही सुख—दुःख का अंत करने वाला है और वही सुख—दुःख को देने वाला है। यह निश्चय नय का अभिमत है।** अज्ञान और दर्शन—ज्ञानावरण और दर्शनावरण आत्मा को विकृत नहीं बनाते। **जितने विकार हैं, उन सबका बीज केवल मोह है।**

जो जीवन सत्प्रवृत्ति करता है, उसके पाप कर्म की निर्जरा होती है और शुभ कर्म का संग्रह होता है, इसलिए वह सत्कर्मा कहलाता है। शुभ कर्मों का उदय होने पर जीव को शुभ नाम, शुभ गौत्र, शुभ आयुष्य और शुभ वेदनीय की प्राप्ति होती है। **कर्म शुभ हो या अशुभ, आत्मा के लिए दोनों ही बंधन हैं।** जब तक कोई भी बंधन रहता है तब तक आत्मा को अपने स्वरूप की संप्राप्ति नहीं होती। जो क्रिया नहीं करता, संवृत हो जाता है, उसके नये कर्मों के बंधन का कारण शेष नहीं रहता। जिसके पहले किये हुए कर्म नहीं हैं, वह न जन्म लेता है और न मरता है। मोक्ष में मन, वाणी और कर्म नहीं होते, न मनन किया जाता है, न भाषण किया जाता है और न किंचित् मात्र प्रवृत्ति की जाती है। वहां आत्मा अकर्म होती है। जिसके ज्ञान, दर्शन के आवरण तथा मोह और अंतराय क्षीण हो जाते हैं, वह वीतराग कृत्यकृत्य हो जाता है। उसके करणीय शेष नहीं रहते। वह शुद्धात्मा होने के कारण सब तत्त्वों को जानता—देखता है। जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना समभाव से सहन करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है, क्योंकि शरीर में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान् फल का हेतु है।

अमनोज्ञ विषय द्वेष के बीज हैं और मनोज्ञ विषय राग के बीज हैं। जो दोनों में सम रहता है, राग—द्वेष नहीं करता, वह वीतराग कहलाता है। स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—ये पांच हैं और इनको ग्रहण करने वाली क्रमशः यह पांच इन्द्रियां हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत। इन पांच इन्द्रियों का प्रवर्तक और सब विषयों को ग्रहण करने वाला मन होता है। इन्द्रिय स्रोतों में आने वाले शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि विषयों को नहीं रोका जा सकता किन्तु उसमें होने वाली व्यक्त या अव्यक्त संग—मूर्च्छा अथवा आसक्ति को रोका जा सकता है। जो विषयों में विरक्त होता है, वह शोक को प्राप्त नहीं होता। वह संसार में रहता हुआ भी पानी में कमल की तरह भोगों से लिप्त

नहीं होता। जिनका ज्ञान मोह से आच्छन्न है और जिसकी आत्मा चेतना विकृत है, वह पढ़ा-लिखा होने पर भी बार-बार क्रोध, मान, माया, लोभ और घृणा के आवेश में चला जाता है।

निष्कर्ष

आत्म-चिंतन का लक्ष्य होता है पदार्थ चेतना, पुद्गल चेतना से ऊपर उठकर अनन्तता, असीमता की दिशा में प्रस्थान। जो हम हैं उसे पाना। जब तक हम अपने को शरीर मानते हैं, तब तक समस्याएँ मुंह बायेँ खड़ी रहती हैं। पर जब आत्म चिंतन करते हैं तो लगता है समस्या कुछ है ही नहीं। समस्या शब्द ही नहीं होता। **जीवन के नव निर्माण की प्रक्रिया का पहला सूत्र है—अपना बोध!** इसका अर्थ है अपने आपको जानना और अपने आपको पहचानना। दुनिया की बहुत सारी बातों को जानने वाला आदमी अपने आपसे बिल्कुल अनजान है। दूसरों को पहचानने वाला अपने आपको नहीं पहचान पा रहा है। अपने भीतर क्या है, उसे पता नहीं। बाहर की दुनिया में सुख भी है, दुःख भी है, अच्छा भी है, बुरा भी है, प्रिय भी है, अप्रिय भी है। ज्ञान है, सामर्थ्य है सारी बातें हैं। क्या ये अपने भीतर नहीं हैं? जितनी चीजें बाहर हैं, उतनी चीजें अपने भीतर हैं। भीतर का संसार बाहर के संसार से छोटा नहीं है। भीतर में सुख भी है, दुःख भी है, शांति भी है, अशांति भी है। शक्ति भी है और दुर्बलता भी है। सारी बातें अपने भीतर में, किन्तु हम भीतर की बातों से बिल्कुल अनजान हैं। बाहर में शांति है, इसका हमें अहसास होता है, किन्तु भीतर में शांति है इसका पता हमें नहीं चलता।⁶²

जिज्ञासा हुई कि जो आत्मा न इन्द्रियों का विषय है, न मन का विषय है, फिर उसका चिंतन क्यों करें? जब तक गहराई में झांकते-झांकते शरीर, इन्द्रिय, मन को छोड़ते चले जाते हैं तो एक अजीब से आनन्द की दुनिया में प्रविष्ट हो जाते हैं। वह होता है—अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान। वहाँ न क्रोध है, न मान है, न माया है न लोभ। जितनी देर हम उस स्थिति में रहते हैं, तब तक वह अनुभवगम्य, शब्दातीत अनुभूति है, जो भी उस स्थिति से निकलता है, वह वेद संगान हो जाता है। ऋषिमुख से समुद्भूत वाणी उपनिषद् बन जाती है, तीर्थकरों की अतिशय वाक् निःसृत होकर आगम बन जाती है। उसे गीता का उपदेश कहें या कबीर के दोहे, तुलसीदास के भजन कहें या सूरदास के संवैये, मीरा का पागलपन कहें या विवेकानन्द की क्रांति, रामकृष्ण की लीनता कहें, योगियों का आनन्द कहें या महाप्रज्ञ की मंजिल कहें—सब वहीं विश्रान्ति को प्राप्त होते हैं।

“जीव जब तक अपने असली स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रांति रखता है, तब तक उसके भाव कर्मों का बंध होता रहता है। जीव की निज स्वरूप में भ्रांति चेतना रूप है। जीव के इस चेतन परिणाम से जीव के वीर्य स्वभाव की स्फूर्ति होती है और इस शक्ति के स्फुटित होने से जड़-रूप द्रव्य कर्म की वर्गणाओं को ग्रहण करता है।” जीव अच्छे बुरे कार्य करता है और उसके फलस्वरूप कर्म-परमाणु उसके आत्म-प्रदेशों में प्रवेश कर उनके साथ बंध जाते हैं। इस प्रकार जीव कर्मों का

कर्ता है। इसका तात्पर्य है कि वह अपने सुख-दुःख का कर्ता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—“आत्मा ही वैतरणी नदी है और यही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु है और यही नन्दवन वन है। आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने या न करने वाली है।⁵⁹ आत्मा ही सदाचार और दुराचार को करने वाली है। अपने काम के अनुसार ही उसके कर्मों का बंध होता है। ये कर्म ही अच्छा और बुरा फल देते हैं। आत्मा सत्कर्म अथवा दुष्कर्म करने में स्वतंत्र है। इसलिए कहा गया है—“बन्धप्पमोखो तुज्झ ज्झत्थेव” बन्धन और मोक्ष आत्मा के ही हाथ में है।

व्यवहार की दृष्टि में भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि में गीत-गान विलाप मात्र है, नाटक विडम्बनाएँ हैं, आभूषण भार है और काम भोग दुःख। जिस व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परमाणुओं के साथ वस्तु के परमाणुओं का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैषम्य हो तो आकर्षण नहीं बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यवहारिक दृष्टि है। परमार्थ दृष्टि में आत्मा ही सुन्दर है; वही अच्छी, प्रिय और उपादेय है। आत्म-व्यतिरिक्त सभी वस्तुएँ हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—“दर्शनं स्वात्मनिश्चितिः” अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

भारत में चिंतन के प्रारंभ से आज तक आत्म-तत्त्व शोध का विषय रहा है और भविष्य में रहेगा। हर युग के चिंतकों ने आत्मा विषयक विचारों को व्यक्त किया है, भले ही कुछ दार्शनिकों ने आत्मास्तित्व का निषेध किया हो पर आत्मा ने उनके विचार मंथन को अछूता नहीं छोड़ा है। आत्मा का अस्तित्व मानने वालों के लिए तो आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है, क्योंकि आत्मज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है। आत्म-साक्षात्कार करके हम वृहत् साक्षात्कार की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

—सलाहकार, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज.)

सन्दर्भ—ग्रंथ

- ¹ भगवती 20.2, पृ. 809
- ² उत्तरज्झयणाणि 28.10—11
- ³ दसवेआलियं, 4.3
- ⁴ वही, 4.3
- ⁵ ठाणं, 2
- ⁶ भगवती, 7.8
- ⁷ भगवती 7.8
जम्हा आणमइ वा, णाणमइ वा, उस्सइ वा, णीससइ वा तम्हा 'पाणे' वि वत्तत्वं सिया।
- ⁸ आत्मा का दर्शन—सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्रथम संस्करण, अप्रैल, 2005.
- ⁹ प्रशमरति प्रकरण 52, पूर्वाद्धं
- ¹⁰ आत्मा का दर्शन, पृ. X से XII
- ¹¹ प्रशमरति प्रकरण—52, उत्तराद्धं
- ¹² शतपथ ब्राह्मण, 7.1.1
- ¹³ तैत्तिरीय आरण्यक, 9.1
- ¹⁴ तैत्तिरीय आरण्यक, 1.3—8
- ¹⁵ भारतीय दर्शन—डॉ. राधाकृष्णन, भाग—1, पृ. 32.
- ¹⁶ वही, पृ. 138.
- ¹⁷ छांदोग्योपनिषद्, 8.7, 4.8, 11.2
- ¹⁸ कठोपनिषद्, 3.10, 6, 6—8
- ¹⁹ मुण्डकोपनिषद्, 3.2.3
- ²⁰ भारतीय दर्शन—डॉ. न.कि., देवराज, पृ. 75
- ²¹ तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.1.5
- ²² सूत्रकृतांग, 2.1.9, 2.1.10
- ²³ वही, 2.1.9
- ²⁴ वृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.12.
- ²⁵ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 3.3.53.
- ²⁶ तत्त्वार्थवार्तिक, 2.7.27, पृ. 117
- ²⁷ चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा—डॉ. सम्पूर्णानन्द पाठक सूत्र, 5.36, पृ. 40
- ²⁸ प्रमेयकमल मार्तण्ड, 1.7, पृ. 114, न्याय कुमुदचन्द्र, भाग—1, पृ. 346, प्रशस्तपाद, भाष्य, पृ. 49.
- ²⁹ तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.2.3, कौषीतकी 3.2
- ³⁰ न्याय कुमुदचन्द्र, पृ. 176.
- ³¹ प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. 49, 50
- ³² भारतीय दर्शन—डॉ. राधाकृष्णन, भाग—2, पृ. 148, 149
- ³³ (क) तर्क भाषा, केशव मिश्र, पृ. 148.
(ख) तर्क संग्रह, पृ. 12.
- ³⁴ सांख्य सूत्रम्, 1.66
- ³⁵ वही, 1.142.
- ³⁶ वही, 1.105, 143
- ³⁷ सांख्यकारिका, 15, सांख्य सूत्रम्, 1.144
- ³⁸ सांख्य सूत्रम्, 1.163, 164.
- ³⁹ वृहदारण्यकोपनिषद्, 1.4.10.
- ⁴⁰ छांदोग्योपनिषद्, 6.8.7

-
- 41 वृहदारण्यकोपनिषद्, 2.5.19.
- 42 तन्त्रवार्तिक, शास्त्र दीपिका, पृ. 123, निर्णय सागर संस्करण
- 43 शास्त्रदीपिका, पृ. 123.
- 44 वही, पृ. 124–125.
- 45 मज्झिमनिकाय, मूलपण्णासक, 35.3.5–24
- 46 मज्झिमनिकाय उपरिपण्णासक, 2.2.1–6.
- 47 कुन्दकुन्द, समयसार, 39–55.
- 48 अभिधर्म कोष, 3.18
- 49 तत्त्वबोध–आचार्य महाप्रज्ञ, भाग–2, प्रकाशक–राजस्थान पत्रिका, जयपुर, प्रथम संस्करण नवम्बर, 2007, पृ. 10
- 50 तत्त्वबोध–आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 158–159.
- 51 आत्मा का दर्शन–सम्पादक आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 97–98.
- 52 तत्त्व–बोध–आचार्य महाप्रज्ञ, भाग–2, पृ. 4.
- 53 उत्तराध्ययन, 20.36–37